(1) सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त
(THEORIES OF SOCIAL STRATIFICATION)

क्या कारण है कि विश्व के सभी समाजों में स्तरीकरण विद्यमान है? तथा इसकी प्रक्रिया क्या है? ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर देने के लिए समाजशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनमें से हम यहाँ कुछ का उल्लेख करेंगे :

(1) **संघर्ष का सिद्धान्त : मार्क्स** (Conflict Theory : Marx)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में **कार्ल मार्क्स** अग्रणीय हैं। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण को समाज में पाये जाने वाले संघर्ष के आधार पर स्पष्ट किया है। इस सिद्धान्त का उल्लेख उन्होंने अपनी कृति **'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो'** (Communist Manifesto) में किया है। वे लिखते हैं, "आज तक जो भी समाज अस्तित्व में आये उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।" अर्थात् प्रत्येक युग में सामाजिक वर्ग मौजूद रहे हैं और उनमें परस्पर संघर्ष रहा है। प्राचीन समय में स्वतन्त्र और दास, कुलीन व अकुलीन, सामन्त और अर्द्ध-दास, अत्याचारी व पीड़ित आदि वर्ग रहे हैं। वर्तमान पूँजीवादी समय में बुर्जुआ (पूँजीपति) एवं सर्वहारा (श्रमिक) ये दो वर्ग प्रमुख हैं जो परस्पर संघर्षरत हैं। उच्च वर्ग ने सदैव ही निम्न वर्ग का शोषण किया है।

वर्गों का जन्म उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व अथवा अस्वामित्व के आधार पर होता है। इस आधार पर समाज में दो प्रधान एवं विरोधी वर्गों का जन्म होता है : एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है और दूसरा वह जो इससे वंचित होता है। वर्गों का स्वरूप उत्पादन के ढंग पर निर्भर करता है। उत्पादन का ढंग भी इस बात पर निर्भर होता है कि वह समाज प्रौद्योगिकी के कौन-से स्तर पर है। **शुम्पीटर** का मत है कि मार्क्स की प्रमुख रुचि वर्गों के विकास में थी। **बॉटोमोर** कहते हैं कि मार्क्स सामाजिक व राजनीतिक परितर्वन लाने में वर्गों की भूमिका में रुचि रखता था। वर्तमान औद्योगिक एवं पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की दृष्टि से दो वर्गों का उदय हुआ : एक पूँजीपति वर्ग (बुर्जुआ) और दूसरा श्रमिक वर्ग (सर्वहारा)। पूँजीपति अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए श्रमिकों को कम-से-कम देना चाहते हैं। श्रमिक वर्ग इस शोषण का विरोध करता है। किन्तु पूँजीपति जो कि अपनी आर्थिक शक्ति के आधार पर राजनीतिक शक्ति भी धारण करते हैं, श्रमिकों के विरोध का थोड़े समय के लिए दमन कर देते हैं। किन्तु उद्योगों का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण होने, यातायात के साधनों का विकास होने, पूँजीपति एवं श्रमिकों के बीच आर्थिक एवं सामाजिक दूरी बढ़ने आदि के कारण श्रमिक वर्ग में एकता एवं चेतना की वृद्धि होती है। वे एकजुट होकर पूँजीपतियों से संघर्ष करते हैं और अन्ततः सफलता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मार्क्स आर्थिक कारण को ही वर्ग का आधार मानता है। यद्यपि वह इस बात से भली-भाँति परिचित था कि सामाजिक विभेदीकरण से इन दो प्रधान वर्गों के अतिरिक्त विरोधी हितों वाले कई अन्य समूह भी उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु उसने इस तथ्य की अनदेखी की। इसका कारण यह था कि वह वर्ग-विहीन समाज के आदर्श एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता से बँधा हुआ था। मार्क्स वर्गों के जन्म में आर्थिक कारण को ही प्रमु ख और अन्य सभी कारणों को इससे प्रभावित मानते हैं। धर्म, कला, ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति, दर्शन एवं साहित्य सभी कुछ समाज की अर्थव्यवस्था से ही प्रभावित होते हैं। आर्थिक कारण ही प्रमुख हैं, नींव हैं जिन पर धर्म, सभ्यता, कला एवं संस्कृति की अधो-संरचना (super-structure) कायम है। मार्क्स श्रमिकों को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जागरूक एवं एकजुट होने का आमन्त्रण देता है। वह कहता है, "दुनिया के मजदूरो एक हो; तुम्हें तुम्हारी बेड़ियों के सिवा कुछ नहीं खोना है" (Workers of the world unite; you have to loose nothing except your chains)। मार्क्स मजदूरों को धर्म से बचने के लिए भी कहता है क्योंकि उसके अनुसार धर्म अफीम है जिसका प्रयोग पूँजीपति अपने हितों की रक्षा के लिए करता है। वह पूँजीपतियों से किसी प्रकार का समझौता न करने की बात भी कहता है। मार्क्स श्रमिकों की विजय के प्रति काफी आशावादी रहे हैं।

आलोचना—मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं : (1) मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में आर्थिक कारणों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है और सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कारणों की अवहेलना की है। (2) आज तक का इतिहास यह बताता है कि सभी समाजों में वर्ग रहे हैं फिर

Scanned with CamScanner

भी मार्क्स द्वारा वर्ग-विहीन समाज का आदर्श एक कल्पना-मात्र है, व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं है। (3) मार्क्स ने यह भी नहीं बताया कि वर्ग-विहीन समाज में सामाजिक स्तरीकरण का क्या आधार होगा क्योंकि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक तथ्य है। (4) जिन समाजों में वर्ग-व्यवस्था है, वहाँ तो वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त लागू हो सकता है किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ जाति-प्रथा विद्यमान है, यह पूरी तरह लागू नहीं होता। (5) **जॉनसन** कहते हैं कि उत्पादन के दौरान संघर्ष की बजाय सहयोग अधिक होता है। बिना सहयोग के उत्पादन ठप्प हो जाता है। अतः श्रमिकों व पूँजीपति में सदैव संघर्ष की बात उचित प्रतीत नहीं होती है। (6) वर्तमान समय में सरकार एवं पूँजीपतियों ने श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक कार्य किये हैं। इनसे उनमें संघर्ष के स्थान पर सहयोग बढ़ा है। (7) मार्क्स की कई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुई हैं और आज वर्गों का विकास उस प्रकार से नहीं हो रहा है जिस प्रकार की उसने कल्पना की थी। (8) मार्क्स ने कुछ राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह आवश्यक नहीं कि समाज में वर्गों का निर्माण उसकी राजनीतिक प्रतिबद्धता के अनुसार हो। उसके विचारों में पक्षपात एवं अवैज्ञानिकता पायी जाती है।

(2) **प्रकार्यवादी सिद्धान्त : किंग्सले डेविस एवं बिलबर्ट मूर** (Functional Theory : Kingsley Davis & Bilburt Moore)

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन **किंग्सले डेविस** तथा **बिलबर्ट मूर** ने अपने लेख 'सम प्रिन्सिपल्स ऑफ स्ट्रैटीफिकेशन' (Some Principles of Stratification) में किया है। उन्होंने अपना लेख इस मान्यता से प्रारम्भ किया है कि कोई भी समाज वर्ग-विहीन नहीं है सभी समाजों में संस्तरण पाया जाता है। सभी समाजों में स्तरीकरण इसलिए पाया जाता है कि प्रत्येक समाज यह महसूस करता है कि सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का कोई-न-कोई स्थान निश्चित होना चाहिए तथा विभिन्न पदों को प्राप्त करने की उन्हें प्रेरणा दी जानी चाहिए। इस प्रकार सामाजिक विषमता समाज में अचेतन रूप में विकसित होती है। इसके द्वारा समाज ऐसी व्यवस्था करता है कि सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति ही पहुँचें।

प्रो. डेविस कहते हैं, "समाज के विभिन्न पदों के लिए विभिन्न योग्यता एवं बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है तथा कुछ व्यक्तियों का महत्व अधिक होता है।" जो पद सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, ऐसे पदों के लिए अधिक पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। महत्वपूर्ण कार्यों को करने के लिए विशेष प्रतिभा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ प्रशिक्षण कठिन और खर्चीले होते हैं। अतः उन्हें सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए इन पदों के लिए समाज अधिक सुविधा एवं पुरस्कार की व्यवस्था करता है। उदाहरण के लिए, समाज में डॉक्टर, इन्जीनियर, आई. ए. एस. आदि के पद महँगे और अधिक परिश्रम के बाद प्राप्त होते हैं बजाय एक अध्यापक या चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी के पद के। अतः इन पदों के लिए समाज द्वारा अधिक वेतन एवं सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है। प्रश्न उठता है कि विभिन्न पदों को धारण करने एवं उनके अनुसार कार्य करने की प्रेरणा देने के लिए समाज लोगों को क्या पुरस्कार देता है? **डेविस** कहता है कि समाज तीन प्रकार के पुरस्कार देता है : **प्रथम**, समाज वे वस्तुएँ देता है जो व्यक्तियों के जीवन-धारण एवं आरम्भ के लिए आवश्यक होती हैं अर्थात् आर्थिक प्रोत्साहन। **दूसरे**, समाज मन-बहलाव तथा सौन्दर्य तथा बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएँ प्रदान करता है। **तीसरे**, समाज आत्म-सम्मान एवं अहं की तुष्टि करने वाली वस्तुएँ प्रदान करता है अर्थात् प्रतीकात्मक प्रोत्साहन देता है। उदाहरण के लिए, वीरता प्रदर्शित करने वाले सैनिकों को 'परमवीर चक्र' और 'महावीर चक्र' प्रदान किये जाते हैं। राष्ट्रपति द्वारा दी जाने वाली 'भारत रत्न', 'पद्म विभूषण', तथा 'पद्मश्री' आदि उपाधियाँ सम्मानजनक पुरस्कार हैं।

इस प्रकार जब समाज में कुछ लोगों को अधिक अधिकार, पुरस्कार एवं सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं और कुछ को कम तो समाज में स्वतः ही स्तरीकरण पैदा हो जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या यह सिद्धान्त केवल मुक्त समाजों (open societies) में ही प्रचलित होता है जहाँ व्यक्ति योग्यता एवं प्रशिक्षण के आधार पर पदों को प्राप्त कर सकता है या यह उन समाजों पर भी लागू होता है जहाँ पद जन्म एवं पारिवारिक स्थिति के आधार पर प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में अनेक पद जाति के आधार पर होते हैं। **डेविस**

Scanned with CamScanner

03

है कि यह सिद्धान्त बन्द एवं मुक्त दोनों ही समाजों पर लागू होता है क्योंकि स्तरीकरण में व्यक्तियों वरन् पदों का क्रम-विन्यास (ranking) होता है। भारत में भी पदों के महत्व एवं कार्यों की प्रकृति प्रकार क्रम-विन्यास पाया जाता है। स्पष्ट है कि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक तथ्य है।

आलोचना—प्रकार्यवादी सिद्धान्त की कई समाजशास्त्रियों ने आलोचना की है। **बॉटोमोर** ने इसकी कुछ आलोचनाएँ इस प्रकार की हैं :

(1) यह बात सही नहीं है कि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक तथ्य है और सभी समाजों में पदों की एक निश्चित व्यवस्था होती है।

(2) प्रकार्यवादियों द्वारा 'सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थितियों' और 'सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों' दोनों ही अवस्थियाँ स्पष्ट नहीं हैं। समाज में सभी पद एवं व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं क्योंकि समाज को सभी प्रकार के कार्यों की आवश्यकता होती है। क्या चमार, जुलाहा और हरिजन का कार्य राजा से कम महत्वपूर्ण है। फिर यह कहना भी सही नहीं है कि महत्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्ति ही पहुँचते हैं। कई बार अयोग्य व्यक्ति भी घूँस एवं सिफारिश के द्वारा महत्वपूर्ण पदों पर पहुँचते हैं। कई बार यह व्यक्तियों की रुचि पर भी निर्भर करता है कि वे महत्वपूर्ण प्रस्थितियाँ ग्रहण करें या नहीं।

(3) यह सिद्धान्त व्यक्तियों के पदों की अवधारणा पर आधारित है न कि सामाजिक समूह एवं वर्ग पर।

(4) यह सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न प्रकारों और एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन की प्रक्रिया का भी विवरण प्रस्तुत नहीं करता, केवल उन्हें स्वीकार मात्र करता है।

(5) यह सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण और राजनीतिक संघर्ष के बीच के सम्बन्धों पर प्रकाश नहीं डालता।

बॉटोमोर द्वारा प्रस्तुत उक्त आलोचनाएँ महत्वपूर्ण हैं परन्तु फिर भी उनकी इस आलोचना को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्तरीकरण सार्वभौमिक नहीं है।

(3) **मैक्स वेबर का सिद्धान्त** (Theory of Max Weber)

मैक्स वेबर भी मार्क्स की भाँति स्तरीकरण उत्पन्न करने में वर्गों के महत्व को स्वीकार करते हैं। वे वर्ग के निर्धारण में आर्थिक कारकों के महत्व को स्वीकार करते हैं। सम्पत्ति पर अधिकार सामाजिक अवसर, जीवन-सम्बन्धी सुविधाओं एवं वर्ग निर्धारण के लिए महत्वपूर्ण है। जहाँ मार्क्स केवल आर्थिक कारकों को ही महत्वपूर्ण मानता है, वहाँ वेबर आर्थिक के साथ-साथ सत्ता एवं शक्ति को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। सम्पत्ति के आधार पर दो वर्ग बनते हैं : एक सम्पत्ति के अधिकारी एवं दूसरा सम्पत्ति-विहीन। इसी प्रकार सत्ता एवं सम्मान भी समाज में स्तर पैदा करते हैं। सम्पत्ति पर अधिकार रखने वाले लोगों का समाज में विशिष्ट सम्मान होता है तथा वे सत्ता प्राप्त करने में भी सक्षम होते हैं।

(4) **पारसन्स का सिद्धान्त** (Parsons's Theory)

अनेक प्रकार्यवादियों के समान **पारसन्स** का भी विश्वास है कि समाज में व्यवस्था, स्थिरता एवं सहयोग मूल्य मतैक्यता पर आधारित है अर्थात् समाज के सदस्यों में इस बात के लिए सहमति है कि अच्छा तथा उचित क्या है? **पारसन्स** की मान्यता है कि स्तरीकरण व्यवस्थाओं की उत्पत्ति सामान्य मूल्यों से होती है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल्यों के आधार पर समाज में व्यक्तियों का आकलन किया जाता है और उन्हें उच्चता व निम्नता के किसी क्रम में रखा जाता है। जो लोग समाज के मूल्यों के अनुसार अपने दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह कर पाते हैं उन्हें समाज में उच्च स्थिति प्रदान की जाती है तथा उन्हें कई प्रकार के पुरस्कार भी प्रदान किये जाते हैं, क्योंकि ये लोग समाज के सामान्य मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इन्हें उच्च प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए पारसन्स ने साउक्स इण्डियन तथा अमेरिकन समाज के उदाहरण दिये हैं। साउक्स इण्डियन में बहादुरी तथा उदारता को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। जिन लोगों में ये गुण पाये जाते हैं उन्हें स्तरीकरण व्यवस्था में उच्च स्थिति प्राप्त होती है। साउक्स योद्धा जो अपनी शत्रु जनजातियों को एवं पोनी इण्डियन जनजातियों पर सफलतापूर्वक आक्रमण कर पाते हैं, उनके घोड़े

Scanned with CamScanner

छीनकर अपने साथियों में बाँट देते हैं उन्हें कई प्रकार के पुरस्कार प्राप्त होते हैं। जैसे—उन्हें जनजातीय परिषद् की सदस्यता प्राप्त हो जाती है जो कि शक्ति तथा प्रतिष्ठा की सूचक है।

इस प्रकार साउक्स मूल्यों के अनुरूप सफलतापूर्वक आचरण करने पर व्यक्ति को शक्ति तथा प्रतिष्ठा पुरस्कार के रूप में प्राप्त होती है। चूँकि विभिन्न समाजों की मूल्य व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, अतः उच्च स्थिति प्राप्त करने के तरीके भी विभिन्न समाजों में अलग-अलग होते हैं।

पारसन्स ने बतलाया है कि अमेरिकन समाज में व्यक्तिगत उपलब्धि, कुशलता तथा अर्थव्यवस्था में उत्पादक गतिविधि के मूल्य पर विशेष जोर दिया जाता है। अतः वह सफल व्यापारी जिसमें पहल करने की शक्ति, योग्यता एवं महत्वाकांक्षा होती है और साथ ही जो व्यापार को कुशलतापूर्वक सफलता के साथ आगे बढ़ा पाता है, प्रतिष्ठा और शक्ति के रूप में पुरस्कार प्राप्त करता है।

पारसन्स की मान्यता है कि सभी मानव समाजों में स्तरीकरण अनिवार्य रूप से पाया जाता है। यदि सभी समाजों के अनिवार्य निर्मायक तत्वों के रूप में मूल्य मतैक्यता पायी जाती है तो इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य मूल्यों के सन्दर्भ में व्यक्तियों को उच्च अथवा निम्न स्थिति प्रदान की जायेगी जिसके परिणामस्वरूप स्तरीकरण का जन्म होगा। **पारसन्स** का यह भी कहना है कि एक सामान्य विश्वास यह है कि स्तरीकरण व्यवस्थाएँ सही, उचित एवं न्यायसंगत हैं क्योंकि वे मूलतः सामान्य मूल्यों की अभिव्यक्ति ही हैं।

प्रकार्यवादी विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सम्बन्धों को सहयोग तथा अन्तर्निर्भरता पर आधारित मानते हैं। यह तथ्य आज के जटिल औद्योगिक समाजों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे जटिल समाजों में कोई भी समूह आत्म-निर्भर नहीं होने के कारण, अपने सभी सदस्यों की आवश्यकता की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता। अतः उसे दूसरे समूहों के साथ वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय करना होता है। यही कारण है कि विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच पारस्परिकता का सम्बन्ध पाया जाता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर स्तरीकरण व्यवस्था के विभिन्न स्तरों के बीच सहयोग तथा अन्तर्निर्भरता देखने को मिलती है। आधुनिक समाजों में जहाँ विशेषीकृत श्रम-विभाजन पाया जाता है, कुछ सदस्य संगठन तथा नियोजन में विशेषीकरण प्राप्त कर लेते हैं तथा शेष लोगों को उनके निर्देशों का पालन करना पड़ता है। **पारसन्स** ने इसी तथ्य पर जोर देते हुए बताया है कि इससे शक्ति तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से असमानता उत्पन्न होती है।

पारसन्स सामाजिक स्तरीकरण को समाज के लिए न केवल आवश्यक वरन् प्रकार्यात्मक भी मानते हैं। आपका मत है कि शक्ति और प्रतिष्ठा में अन्तर का पाया जाना, विशेषीकृत श्रम-विभाजन के समन्वय तथा एकीकरण के लिए आवश्यक है। **पारसन्स** का विचार है कि बिना इस सामाजिक असमानता के समाज के सदस्य कठिनता से ही प्रभावशाली ढंग से परस्पर सहयोग ले पायेंगे एवं साथ कार्य कर पायेंगे।

पारसन्स के इस सिद्धान्त की कई समाजशास्त्रियों द्वारा आलोचना भी की गयी है। वे स्तरीकरण को एक विभाजक शक्ति के रूप में देखते हैं न कि एकीकरण करने वाली शक्ति के रूप में। वे इसे एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखते हैं जिसमें दूसरों की कीमत पर कुछ को लाभ प्राप्त होता है।

Scanned with CamScanner

भी लाया जा सकता है। यह अध्याय एक पुराने का तरफ तथा तीव्र एवं मन्द किसी ना गति से [illegible] है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF SOCIAL CHANGE)

सामान्यतः सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों से है। प्रारम्भ में समाज-वैज्ञानिकों ने उद्विकास, प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं किया था और वे इन तीनों अवधारणाओं का प्रयोग एक ही अर्थ में करते थे। पहली बार सन् 1922 में ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक *'Social Change'* में इनमें पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट किया। उनके पास समाजशास्त्रीय साहित्य में इन शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है। कुछ विद्वानों ने सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है तो कुछ ने सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को। सम्पूर्ण समाज अथवा उसके किसी भी पक्ष में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्टतः समझने के लिए हम विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषाओं का यहाँ उल्लेख करेंगे :

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रुचि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"[1] इस प्रकार मैकाइवर और पेज सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं क्योंकि समाज का ताना-बाना सामाजिक सम्बन्धों से ही तो बना हुआ है।

किंग्सले डेविस ने भी सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या पूर्णतः समाजशास्त्रीय ढंग से की है। वे लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।"[2] समाज की विभिन्न इकाइयाँ जैसे—संस्थाएँ, समुदाय, समितियाँ, समूह एवं प्रस्थितियाँ आदि मिलकर सामूहिक ढाँचे का निर्माण करती हैं, इन इकाइयों के अलग-अलग प्रकार्य हैं। सामाजिक ढाँचा और उसकी इकाइयों के प्रकार्यों से सामाजिक संगठन का निर्माण होता है। इस सामाजिक

Scanned with CamScanner

संगठन में होने वाले परिवर्तन अर्थात् सामाजिक ढाँचे और प्रकार्य अथवा इन दोनों में से किसी एक में होने वाले परिवर्तन को ही प्रो. डेविस सामाजिक परिवर्तन मानते हैं।

जेन्सन सामाजिक परिवर्तन की विस्तृत व्याख्या करते हैं। इसके अन्तर्गत मानव के व्यवहार एवं विचारों में होने वाले परिवर्तनों को भी सम्मिलित करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने के तरीकों में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[1]

गिन्सबर्ग, जॉनसन, बॉटोमोर तथा **रेमण्ड फर्थ** आदि विद्वानों ने सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन कहा है।

गिन्सबर्ग लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन से मेरा तात्पर्य सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन से है। उदाहरण के रूप में, समाज के आकार, उसके विभिन्न अंगों की बनावट या सन्तुलन अथवा उसके संगठन के प्रकारों में होने वाले परिवर्तन से है।"[2]

जॉनसन के अनुसार, "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।"[3] जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करते हुए सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्प्रदायों और पुरस्कारों, व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं में होने वाले परिवर्तन को भी सामाजिक परिवर्तन कहा है।

बॉटोमोर सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं जो सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में घटित होते हैं।"[4]

गिलिन एवं गिलिन का मत है कि लोग जीवन जीने के लिए कुछ रीतियाँ अथवा विधियाँ अपनाते हैं जो समाज द्वारा मान्य होती हैं। यदि इन विधियों में परिवर्तन आता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जायगा। गिलिन ने उन कारकों का भी उल्लेख किया है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की अपनी परिभाषा सांस्कृतिक आधार पर की है। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से या प्रसार से अथवा समूह के भीतर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों।"[5]

जोन्स ने सामाजिक परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है, सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तःक्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी भाग में घटित होने वाले हेर-फेर या संशोधनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।"[6]

मैरिल तथा **एल्ड्रिज** का मत है कि मानव क्रियाओं (Human Actions) में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं। मानवीय क्रियाएँ सदैव एक जैसी नहीं रहती हैं। हमारी क्रियाएँ हमारे पूर्वजों की क्रियाओं से भिन्न हैं, यही नहीं, व्यक्ति की बचपन, युवा अवस्था एवं वृद्धावस्था की क्रियाओं में भी भिन्नता पायी जाती है। वे लिखते हैं, "जब मानव व्यवहार बदलाव की प्रक्रिया में होता है तब हम उसी को दूसरे रूप में इस प्रकार कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[7]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **सामाजिक परिवर्तन उन परिवर्तनों को कहते हैं जो मानवीय सम्बन्धों, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, प्रस्थितियों, कार्यविधियों, मूल्यों, सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यों में होते हैं।** सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत निम्नांकित तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है :

1. "Social change may be defined as ... ways of doing and thinking of people."

(i) सामाजिक ढाँचे एवं प्रकार्य में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

(ii) सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के व्यवहारों, विश्वासों एवं मूल्यों में परिवर्तन से न होकर समाज के सभी अथवा अधिकांश लोगों की जीवन-विधि में परिवर्तन से है।

(iii) सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF SOCIAL CHANGE)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

(1) **सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक होती है** (The nature of social change is social)—इसका अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष, समूह-विशेष, संस्था, जाति एवं प्रजाति तथा समिति में होने वाले परिवर्तन से नहीं है। इस प्रकार का परिवर्तन तो व्यक्तिवादी प्रकृति का होता है जबकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध समुदाय एवं समाज में होने वाले परिवर्तन से है। इस सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है न कि वैयक्तिक। समाज की किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

(2) **सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना** (Social change is a universal phenomenon)—इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक परिवर्तन एक सर्वव्यापी घटना है, यह सभी समाजों एवं सभी कालों में होता रहता है। मानव समाज के उत्पत्ति काल से लेकर आज तक इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। मानव इतिहास में कोई भी ऐसा समाज नहीं रहा जो परिवर्तन के दौर से न गुजरा हो और पूर्णतः स्थिर व स्थायी हो। कोई भी समाज परिवर्तन का अपवाद नहीं है। यह हो सकता है कि विभिन्न कालों एवं समाजों में परिवर्तन की प्रकृति, गति एवं स्वरूप में अन्तर हो। परिवर्तन की सार्वभौमिकता को प्रकट करते हुए **बीरस्टीड** कहते हैं, "कोई भी दो समाज पूर्णतः समान नहीं हैं। उनके इतिहास और संस्कृति में इतनी भिन्नता पायी जाती है किसी को भी दूसरे का प्रतिरूप (replica) नहीं कह सकते।"[1] कुछ आदिम समाजों में परिवर्तन की गति इतनी धीमी रही है कि कई विद्वान तो यह तक कहने की भूल कर बैठे कि उनमें परिवर्तन नहीं होता है। पश्चिमी देशों के लोग पूर्व के देशों को अपरिवर्तनशील समाज की संज्ञा देते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। परिवर्तन तो एक शाश्वत नियम है जिससे कोई समाज अछूता नहीं रहा है।

(3) **सामाजिक परिवर्तन अवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक है** (Social change is inevitable and natural)—प्रत्येक समाज में हमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन दिखायी देता है और यह एक स्वाभाविक घटना है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और समाज भी प्रकृति का एक अंग होने के कारण परिवर्तन से कैसे बच सकता है। कई बार हम परिवर्तन का विरोध करते हैं, परिवर्तन से प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं, फिर भी परिवर्तन को रोक नहीं सकते। कभी ये परिवर्तन जान-बूझकर नियोजित रूप में लाये जाते हैं तो सभी स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। मानव की आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर समाज में भी परिवर्तन होता है। मानव बदलती हुई स्थिति में अनुकूलन करने के लिए कभी-कभी तो परिवर्तन का इन्तजार तक करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए **प्रो. ग्रीन** लिखते हैं, "परिवर्तन का उत्साहपूर्ण स्वागत जीवन का प्रायः एक ढंग-सा बन चुका है।"[2]

(4) **सामाजिक परिवर्तनों की गति असमान तथा तुलनात्मक है** (Speed of social change is unequal and comparative)—यद्यपि सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है फिर भी सभी समाजों में इसकी गति असमान होती है। आदिम एवं पूर्वी समाजों की तुलना में आधुनिक एवं पश्चिमी समाजों में परिवर्तन तीव्र गति से होता है। यही नहीं, बल्कि एक ही समाज के विभिन्न अंगों में परिवर्तन की गति में

1 "No two of them have an identical history; no two the same culture, None is a replica of another."
—Bierstedt, *The Social Order*, p. 497.

2 "The enthusiastic reception of change has become almost a way of life." —A. W. Green, *Sociology*, p. 211.

Scanned with CamScanner

भी असमानता पायी जाती है। भारत में ग्रामीण समाजों की तुलना में शहरों में परिवर्तन शीघ्र आते हैं। परिवर्तन की असमान गति होने का कारण यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न-भिन्न हैं, सभी में समान कारणों से ही परिवर्तन नहीं आते। एक समाज में एक प्रकार के कारक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं तो दूसरे समाज में दूसरे प्रकार के। हम सामाजिक परिवर्तन की गति का अनुमान विभिन्न समाजों की परस्पर तुलना करके ही लगा सकते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत की अपेक्षा यूरोप के देशों में अफ्रीका की तुलना में रूस में या गाँवों की तुलना में शहरों में परिवर्तन तीव्र गति से आ रहे हैं।

परिवर्तन का देश, काल एवं परिस्थितियों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक देश की तुलना में दूसरे देश में, एक समय की तुलना में दूसरे समय में तथा एक परिस्थिति की तुलना में एक दूसरी परिस्थिति में परिवर्तन की गति भिन्न होती है। भारत में वैदिक काल, अंग्रेजों के काल एवं आधुनिक काल में परिवर्तन समान गति से नहीं हुए हैं क्योंकि इन युगों की परिस्थितियों एवं परिवर्तनों के कारणों में बहुत अन्तर पाया जाता है।

(5) **सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है** (Social change is a complex phenomenon)—चूँकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों (qualitative change) से है, जिनकी कि माप-तौल सम्भव नहीं है, अतः यह एक जटिल तथ्य है। हम किसी भौतिक वस्तु अथवा भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तन को माप-तौल के आधार पर प्रकट कर सकते हैं किन्तु सामाजिक मूल्यों, विचारों, विश्वासों, संस्थाओं एवं व्यवहारों में होने वाले परिवर्तनों को मीटर, गज एवं किलोग्राम की भाषा में माप नहीं सकते। अतः सरलता से ऐसे परिवर्तन का रूप भी समझ में नहीं आता। सामाजिक परिवर्तन में वृद्धि के साथ-साथ उसकी जटिलता में वृद्धि होती जाती है।

(6) **सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती** (Prediction of social change is not possible)—सामाजिक परिवर्तन के बारे में निश्चित रूप से पूर्वानुमान लगाना कठिन है। अतः उसके बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। यह कहना बड़ा कठिन है कि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण भारत में जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली एवं विवाह में कौन-कौन-से परिवर्तन आयेंगे। यह बताना भी कठिन है कि आगे चलकर लोगों के विचारों, विश्वासों, मूल्यों, आदर्शों, आदि में किस प्रकार परिवर्तन आयेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम सामाजिक परिवर्तन के बारे में बिल्कुल ही अनुमान नहीं लगा सकते अथवा सामाजिक परिवर्तन का कोई नियम ही नहीं है। इसका सिर्फ यही अर्थ है कि कई बार आकस्मिक कारणों से भी परिवर्तन होते हैं जिनके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण भविष्य में जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार को विघटित कर देंगे, अपराधों में वृद्धि होगी तथा शिक्षा एवं नवीन कानूनों के प्रभाव के कारण भारत में अस्पृश्यता कम और धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगी। फिर भी किस प्रकार के परिवर्तन आयेंगे और उनका स्वरूप क्या होगा—इसके बारे में निश्चितता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

विलबर्ट मूर ने आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है[1] :

(1) सामाजिक परिवर्तन एक अपवाद नहीं वरन् अनिवार्य नियम है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक संरचना के सभी तत्व पूर्ण रूप से बदल जाते हैं अपितु इसका अर्थ यह है कि सामाजिक संरचना के किसी-न-किसी अंग में परिवर्तन अवश्य होता है। सामाजिक पुनर्निर्माण की अवधि में इसकी गति सबसे अधिक है।

(2) पहले समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक होते हैं और उन परिवर्तनों को आज हम अधिक स्पष्ट रूप में देख भी सकते हैं।

(3) यद्यपि परिवर्तन का फैलाव सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है, फिर भी विचारों और संस्थाओं में परिवर्तन की जो गति है, उससे कहीं तेज गति भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में देखने को मिलती है।

1 W. E. Moore, *Social Change*, p. 2.

Scanned with CamScanner

(4) स्वाभाविक ढंग से एवं सामान्य गति से जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर अधिक पड़ता है।

(5) सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

(6) सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है अर्थात् सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत एक स्थिति दूसरी स्थिति को परिवर्तित करती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक इसके अच्छे या बुरे प्रभावों से सम्पूर्ण समाज परिचित नहीं हो जाता।

(7) आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन न तो मनमाने ढंग से किया जाता है और न ही उसे प्राकृतिक नियमों पर स्वतन्त्र व असंगठित छोड़ दिया जाता है। साधारणतः प्रत्येक समाज में सामाजिक नियोजन के द्वारा इसे नियन्त्रित कर इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान

Scanned with CamScanner